एक नया विद्यालय, नई कोशिश बच्चों की नज़र से

फ़राह फ़ारूक़ी

पोखरामा फ़ाउण्डेशन अकैडमी के साथ मेरा सफ़र 2021 से शुरू हुआ। एक साथी और उस्ताद, प्रोफ़ेसर अनिल सेठी, जो फ़ाउण्डेशन के डायरेक्टर हैं, उन्होंने पूछा कि क्या मैं उनके स्कूल के बच्चों से मिलना चाहूँगी। चूँकि उस वक़्त कोरोना का दौर चल ही रहा था तो मैंने तजवीज़ दी कि मैं दिल्ली से इंटरनेट पर सामाजिक-सियासी ज़िन्दगी मज़मून की कुछ कक्षाएँ ले सकती हूँ। जब कक्षाएँ लेना शुरू किया तो बच्चों को पढ़ाने में मज़ा आने लगा, और सीखने को भी काफ़ी मिल रहा था। इस तरह सातवीं जमात को यह विषय पूरे साल पढ़ाया।

बच्चों का लगातार इसरार रहा कि मैं पोखरामा आऊँ। ऐसा मज़मून पढ़ा रही थी कि दूर बैठकर पढ़ाना वैसे ही बेईमानी लग रहा था। यह स्कूल पटना से 150 कि.मी. दूर, लखीसराय ज़िले के पोखरामा गाँव में स्थित है। किसी तरह नवम्बर, 2022 की शुरुआत में एक हफ़्ते के लिए स्कूल पहुँची। बच्चों की खुशी का ठिकाना नहीं था। स्कूल के बारे में काफ़ी सुना तो था लेकिन इन्तज़ामिया, अध्यापकों और स्कूल से जुड़े तमाम लोगों की मेहनत देखकर लगा कि यह बेहतरीन पहल है। सो, इसके बारे में लिखने का फ़ैसला किया।

इस पहल के बारे में जो मैं दर्ज कर रही हूँ, कोशिश की है कि बच्चों की नज़र से देखते हुए पेश करूँ। इस लेख को लिखने के दो मक़ासिद हैं। पहला – शिक्षा से जुड़ी एक नई कोशिश के बारे में जानकारी देना। दूसरा – नज़रिए कैसे ज़मीनी हक़ीक़त से जुड़ते हैं, यह दिखाना।

स्कूल की बुनियाद

पहले यह बात कर लेते हैं कि स्कूल की शुरुआत कैसे हुई। अजय सिंह, जो इसी गाँव से हैं, पढ़-लिखकर अब अमरीका में दवाओं का व्यापार करते हैं। उनकी तमन्ना थी कि अपने गाँव के बच्चों के लिए कुछ

कर पाएँ। कई बच्चों की तो ज़ाती तौर पर मदद की। उनका मानना था कि अगर वे पढ़ सकते हैं, तो अन्य बच्चे भी पढ़ सकते हैं, बस मौक़ा मिलना चाहिए।

सन् 2016 में घर के ही चार लोगों (अजय, निष्ठा, ज्ञान, गरिमा) ने मिलकर पोखरामा फ़ाउंडेशन बनाया। शुरू में सोचा कि बच्चों को वज़ीफ़ा देंगे और गाँव के पास चल रहे बेहतर समझे जाने वाले एक निजी स्कूल में दाख़िला कराएँगे। यह करने के लिए उन्होंने गाँव में एक आम सभा बुलाई। सोचा था कि दस बच्चों से शुरुआत करेंगे। लेकिन सभा में तो भीड़ उमड़ आई। यह देखकर वज़ीफ़े की संख्या दस से फ़ौरन ही चालीस कर दी गई।

2016 से 2019 तक चालीस बच्चों की फ़ीस और बस के पैसे देने का सिलसिला चला। वे जब भी गाँव आते तो इन बच्चों से मुलाक़ात करते और कोशिश होती कि इन्हें अलग से भी पढ़ाया जाए। इसके लिए कई विशेषज्ञों को बुलाकर कार्यशालाएँ आयोजित करवाई जातीं। सन् 2018 में इन चारों के उस्ताद अनिल सेठी जी, जो दिल्ली यूनिवर्सिटी, अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी और एनसीईआरटी से जुड़े रहे हैं, इस संस्था से जुड़े। उनकी तजवीज़ हुई कि क्यों न हम अपना स्कूल शुरू करें। इतने पैसे ख़र्च करने के बावजूद बच्चे दोयम दर्जे के स्कूल में क्यों पढ़ें? इस तरह 2019 में पोखरामा फ़ाउंडेशन स्कूल की शुरुआत हुई। पहले स्कूल अजय सिंह जी के घर पर शुरू हुआ। वहीं कई कमरों और बरामदों में कक्षाएँ लगने लगीं। जब बच्चों की तादाद बढ़ी तो नई बिल्डिंग बनाने का सोचा, जो अभी बन ही रही है। इसका ज़िक्र मैंने आगे किया है। अब यह स्कूल नवीं कक्षा तक है और इसमें 113 बच्चे पढ़ते हैं। और नए सत्र से यह संख्या बढ़कर 163 हो गई है।

स्कूल की इमारत।

बच्चों पर असर

जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है कि मैंने सातवीं जमात के बच्चों को एक मज़मून पढ़ाया है, तो स्कूल पहुँचने के बाद बातचीत की शुरुआत भी उन्हीं से हुई। अब वे बच्चे आठवीं में आ गए थे और मैंने सामाजिक-सियासी ज़िन्दगी मज़मून उन्हें आठवीं में भी पढ़ाया। जब पूछा कि उन्हें इस स्कूल में पढ़ने पर विचारों में या अपने आप में क्या बदलाव नज़र आते हैं, तो जवाब कुछ इस तरह के थे –

रिया: सवाल तो पहले भी थे। जैसे, मम्मी किसी मज़दूर को सब्ज़ी देने के लिए कहती थीं, तो कहती थीं कि थाली मत देना, रोटी पर ही डाल देना। यह चीज़ें अब समझ में आई हैं कि कैसे समाज में भेदभाव होता है।

रामनिवास: मैम, हम पहले लोगों में भेदभाव करते थे। जैसे, सब मुसलमानों को पाकिस्तानी कहना। अगर खेलते थे तो दूसरी टीम को पाकिस्तान बना देते थे। सभी यह करते थे। अब इन सब चीज़ों पर हँसी आती है।

मनीष: पहले जब मैं दुकान पर बैठता था तो अलग-अलग लोगों से अलग-अलग व्यवहार करता था। मैम, लड़ाई तो सभी लोग करते हैं। अब ग्राहकों से एक-समान बातचीत करने की कोशिश करता हूँ।

इन्हीं बच्चों और इनके अन्य साथियों के साथ जब मैं पोखरामा के दौरे पर गई, तो इनकी पैनी नज़र से उस इलाके को देखने-समझने का लुत्फ़ ही कुछ और था। एक बच्चे ने दिखाया, "ये घर जो आप देख रहे हैं, गाँव के बाहर की तरफ़ इस छोर पर, ये घर तथाकथित (so called) 'नीची जाति' के हैं। मैम, आप तथाकथित 'ऊँची जाति' के घरों से इनकी दूरी देख रही हैं?"

एक बच्चे ने मुझे एक पोखर दिखाते हुए बताया, "मैम, लोगों के हिसाब से यहाँ शिवलिंग निकला था।" इसपर एक अन्य बच्चा मुस्कराया।

ऊपर दिए गए कथन सुनकर मैं यह सोचने पर मजबूर हो गई कि दिल्ली के कई नामी स्कूलों में बच्चों के साथ काम करने का तजुर्बा इतना मुख़्तलिफ़ क्यों है। यह ज़रूर है कि पोखरामा में सामाजिक बनावट ही इस तरह की है कि भेदभाव नुमाया-सा है। साथ ही, यहाँ के बच्चे अपने आसपास को बख़ूबी जानते हैं। उन्हें स्कूल और घरों में 'बन्दी' नहीं बना लिया गया है। फिर भी मैं समझती हूँ कि अपने व्यवहार पर ग़ौर करना और इतनी बारीक टिप्पणी करना आसान नहीं है। मुमकिन है कि यह स्कूल के माहौल की देन है। आप इसी माहैल के बारे में आगे पढ़ेंगे।

स्कूल का सामाजिक ताना-बाना

अगर हम बच्चों की बात करें तो

स्कूल के 113 बच्चों में से दो बच्चे मुसलमान परिवार से हैं। तक़रीबन 20-25 बच्चे कहार और दलित जाति से हैं। बाक़ी सभी बच्चे पोखरामा के प्रभुत्व समूहों से हैं। भले ही वे प्रभुत्व वर्ग से हों, लेकिन माली और क्षेत्रीय हिसाब से पिछड़े हुए हैं।

आठवीं कक्षा में फ़िलहाल आठ बच्चे हैं। रिया के पिता पानी-बिजली का काम करते हैं। उजाला के पिता स्कूल के अध्यापकों का खाना पकाते हैं। रामनिवास के पिता खेत-मज़दूर हैं। उनकी अपनी ज़मीन या खेत नहीं हैं। केशव और आदर्श के पिता गाँव के बाहर किसी और क़स्बे में गार्ड का काम करते हैं।

इस बार मुसलमान बच्चों का दाख़िला करवाने के लिए, ताकि स्कूल में विविधता हो पाए, स्कूल प्रशासन, टीचर और बच्चों ने काफ़ी मेहनत की। चूँकि पोखरामा गाँव में मुसलमान आबादी बिलकुल नहीं है, इसलिए पास के उरैन और अली नगर इलाक़ों में लोगों के साथ कई बैठकें कीं, घर-घर गए। पोखरामा फ़ाउण्डेशन के कई बच्चे भी साथ थे। मस्जिद के मौलाना से भी मिले। इस के बावजूद फ़िलहाल दो ही मुसलमान बच्चों का दाख़िला स्कूल में हो पाया। हो सकता है, इन दो बच्चों को देखकर अगले साल अन्य लोग भी अपने बच्चों को इस स्कूल में दाख़िला दिलवाएँ। क्या करें, सामाजिक दूरियों और डर को लाँघना आसान नहीं है।

लेकिन इस मशक़्क़त से एक और फ़ायदा हुआ। जो बच्चे शिक्षकों के साथ इन मोहल्लों में गए थे, उनका कहना था, “मैम, लोगों ने हमारी काफ़ी आवभगत की। हमारे घर में तो इनके बारे में कुछ और ही कहा जाता था।”

पता चला कि एक परिवार किसी दूर गाँव से आकर इस गाँव में इसलिए रहने लगा है ताकि उनके परिवार के बच्चे इस स्कूल में पढ़ सकें। अच्छी शिक्षा के तलबगार बहुत हैं और अच्छे स्कूल कम हैं। ऐसे ही भास्कर, जो कि तांती जाति से हैं, इस गाँव में अपनी नानी के घर पढ़ाई की ख़ातिर रहते हैं। सुबह-सुबह घर से 400 मीटर की दूरी से कम-से-कम छः बाल्टी पानी भरकर लाते हैं। कभी अपना खाना भी खुद ही पकाना पड़ता है। लेकिन स्कूल में खुश हैं। कहते हैं, “क्या पढ़ाई सिर्फ़ पैसा कमाने के लिए है? वो तो कई तरह के काम करके कमाया जा सकता है। गाँव के कल्चर में बदलाव होना चाहिए, जो आसान नहीं है।”

स्कूल के दायरे के बाहर

तीन शिक्षकों ने मिलकर पोखरामा के एक मोहल्ले में, जिसे हरिजन टोला या मुसहरी टोला कहा जाता है, एक नई पहल की है। इस टोले के बारे में बच्चों से पूछने पर यह जवाब मिला, “मैम, यह सब हमारे पूर्वजों का किया-धरा है। पहले ये लोग गाँव में

ही रहते थे, पर इन लोगों को इतना परेशान किया गया कि हाथ-पैर जोड़कर ये गाँव के बाहर जा बसे।" एक अन्य बच्चा हँसता हुआ बोला, "मैम, यहाँ पर लोग कहते हैं कि ऐसा कलयुग आएगा कि शूद्र राज चलाएगा।"

पहल करने वाले अध्यापकों ने इस मोहल्ले के सरकारी स्कूल से शाम में एक कमरा खुलवाने का आग्रह किया, जोकि उन्होंने मान लिया है। अब चार से पाँच बजे तक कमरा मुहैय्या हो जाता है। जब मैं साथ में पहुँची, तो इस अँधेरे-से कमरे में पीछे की तरफ़ एक बल्ब टिमटिमा रहा था। कमरे में रोशनी तो बस बच्चों की ख़ुशी भरी आवाज़ों और खिलखिलाहट की ही थी। इस सेंटर में बच्चों को भाषा और गणित सिखाया जाता है। साथ ही, अलग-अलग उम्र के बच्चे साथ मिलकर कविताएँ भी गाते हैं। और सभी बच्चों की तरह वे भी चाहते हैं कि अँग्रेज़ी कविताएँ भी सीखें। उम्मीद है कि अगले साल मुसहरी और दलित बच्चे ज़्यादा तादाद में स्कूल पहुँचेंगे।

पोखरामा फ़ाउण्डेशन अकैडमी के कई कहार और दलित जातियों के बच्चों से भी बातचीत का मौका मिला। इन लोगों और बच्चों को गाँव के माहौल ने हाशियेबन्दी और अलगाव का शिकार तो कर ही रखा है। पूछने पर कहा, "स्कूल में तो कोई भेदभाव नहीं है, हम सब खूब मस्ती करते हैं।" आपसी दोस्तियों ने बच्चों को समाज को समझने के नए चश्मे और नज़र दे दी है।

इमारत बनने की शुरुआत: मज़दूरों की दावत के लिए लड़के आटा गूँधते हुए। फिर शिक्षकों और बच्चों ने मिलकर खाना पकाया।

तैयारी सोचने की

कहार और तांतिया जाति के बच्चों के पास अपने तजुर्बों को समझने और शब्दों में पिरोकर अवधारणा से जोड़ने की शब्दावली भी काफ़ी हद तक मौजूद है। सातवीं कक्षा के सौरभ की बातें सुनकर मैं सोचने लगी कि पता नहीं हमने किस तरह का अमूर्त शिक्षा

तंत्र गढ़ा है कि कई बार बड़े कॉलेज के विद्यार्थी भी अपनी ज़िन्दगी से तालीम का जुड़ाव नहीं देख पाते हैं। मेरी सौरभ से जो बातचीत हुई, उसके कुछ अंश यहाँ पेश हैं।

"कॉम्पीटीशन तो जनरल लोग ही निकाल पाएँगे, क्यों? क्योंकि उनके पास मौक़े और संसाधन हैं। वे अच्छी तरह पढ़ाई कर पा रहे हैं, उनपर कोई दबाव नहीं है। वो सोचते भी नहीं होंगे के एस.सी./एस.टी. में क्या हो रहा है...

"अभी हमारे स्कूल के बच्चे पटना गए थे। सरकार इतना टैक्स लेती है, लेकिन नज़रिया नहीं बदल पा रही है। पटना में हर दस कदम पर पचास हज़ार का एक एल.ई.डी. लगा है। इसका क्या फ़ायदा? उसके सामने लोग भीख माँग रहे हैं, भूखे हैं। टैक्स जमा करके सरकार यह नहीं देखती है कि उसका सही इस्तेमाल हो रहा है या नहीं। हम स्कूल से सर्वे करने जाते हैं तो हमें पता चलता है कि सारा फ़ायदा मज़बूत लोगों को ही मिलता है। एस.सी., एस.टी. में भी पैसा कमज़ोर को नहीं मिलता। एक साल से सर्वे कर रहे हैं, सत्रह में से किसी को पाँच योजनाओं का लाभ भी नहीं मिला है...

"अब प्राइवेट का चलन चल रहा है। प्राइवेट जॉब वही करेंगे जिनके पास लैपटॉप है और दस लाख की पढ़ाई... हमारे स्कूल में डिस्क्रिमिनेशन (भेदभाव) नहीं है। लेकिन फिर भी मैं सोचता हूँ कि यहाँ बहुत-से बच्चे ऐसे हैं जो फ़ीस देकर किसी भी बढ़िया-से स्कूल में पढ़ सकते हैं। तो कहार या तांतिया जाति के बच्चों का एडमिशन इस स्कूल में ज़्यादा होना चाहिए।"

आधे घण्टे की बातचीत में सौरभ मियाँ ने ढाँचागत ग़ैर-बराबरी, संसाधनीय ग़ैर-बराबरी, दर्जाबन्दी, हाशियेकरण और निजीकरण की बातें कर डालीं। अपने तजुर्बों को जब बच्चे बेझिझक होकर साथियों के, टीचर के और मेरे सामने रखते हैं तो सभी के लिए मानो एक खिड़की-सी खुल जाती है। मुझे बच्चों की बहस, नाराज़गी, खुशी, खिलखिलाहट और तमाम बातों से लगता है कि स्कूल अपने तालीमी नज़रिए की ओर बढ़ रहा है। इस नज़रिए का पहला तसव्वुर है कि बच्चे स्कूल आने में ख़ुशी महसूस करेंगे और उनके ज़हन में कोई डर नहीं होगा।

स्कूल का माहौल

पोखरामा फ़ाउण्डेशन अकादमी के विज़न दस्तावेज़ के हिसाब से - "स्कूल एक ऐसी जगह होगी जहाँ बच्चे निडरता से रहेंगे। गाँधी जी के हिसाब से अभयदान से बड़ा कोई तोहफ़ा नहीं है।" आगे दस्तावेज़ कहता है कि "खुले माहौल में लगातार बातचीत होगी। रौब और गुस्से को जगह नहीं मिलेगी और न ही कोई बौद्धिक और सांस्कृतिक

दर्जाबन्दी होगी।" शुरू में समुदाय के लोगों को कई ऐतराज़ात थे; जैसे, "टीचर उन लोगों और बच्चों के साथ क्यों बैठे हैं जो सफ़ाई का काम करते हैं?" या फिर, "बच्चे क्यों डेस्क और कुर्सियाँ लगा रहे हैं?" लेकिन अब धीरे-धीरे ऐसे सवाल आना बन्द हो गए हैं।

मेरी क्लास के बच्चे भी गहरे सवाल करते हैं। एक ने पूछा, "अगर आदिवासियों को ज़मीन से हटाया जा रहा है और ज़मीन कम्पनियों को बेची जा रही है, तो उस पैसे से लोगों का फ़ायदा हो सकता है। तब विस्थापन क्यों गलत है?" इन बच्चों से फिर विकास पर सवाल उठाते हुए, सामाजिक और सांस्कृतिक लागत जैसी कई अवधारणाओं पर बातचीत हुई। बहस फिर भी जारी रही।

स्कूल में एक सहज-सा माहौल दिखता है। फैक्ट्री की तरह घण्टी नहीं बजती है। लेकिन बच्चे और टीचर वक़्त पर कक्षा में पहुँच जाते हैं। कई स्कूलों में टीचर की ग़ैर-मौजूदगी में जो हंगामा बरपा होता है, वह देखने को नहीं मिला। कक्षा दो के 16 छोटे बच्चे भी आराम-से अपना काम पूरा करते दिखे। पहले मुझे लगा कि शायद कोई टीचर साथ है। पूछने पर पता चला कि कई टीचर किसी काम से शहर के बाहर गए हुए हैं। लेकिन कुछ लिखने-पढ़ने का काम देकर गए हैं। बच्चे समूहों में और कई अलग से भी शान्ति से अपना काम कर रहे थे।

मुझे लगता है कि स्कूल एक माहौल बनाने में सफ़ल हुआ है। इस पूरे माहौल का असर है कि बच्चे जल्दी ही उसका हिस्सा बन जाते हैं। स्कूल की गतिविधियों में एक लचीलापन देखने को मिलता है। स्कूल के बाद गणित के टीचर स्कूल में 5 से 7 बजे तक मौजूद होते हैं। अगर किसी कक्षा के बच्चे को कोई कठिनाई आती है और वह अलग से समझना चाहती है तो उस समय पूछ सकती है। कई बार किसी अलग विषय के टीचर भी इस दौरान बच्चों से मिलते हैं। यह अध्यापकों की अपनी पहल है, इन्तज़ामिया की कोई राय या तजवीज़ शामिल नहीं है। इसलिए जो टीचर चाहते हैं, वे ही क्लास लगाते हैं।

इस दौरान कई अन्य बच्चे समूहों में इधर-उधर बैठकर काम करते नज़र आते हैं। कोशिश होती है कि ये सब सात बजे तक अपने-अपने घर चले जाएँ। चले भी जाते हैं, लेकिन कुछ बच्चे इम्तहान के समय और ख़ास मौकों पर स्कूल के पुराने कैंपस में देर तक रहते हैं। एक ने कहा, "इम्तहान के समय तो मेरा अपने घर से बस सोने-खाने का रिश्ता रहता है। वरना मैं तो स्कूल में रात दस बजे तक रहता था। यहाँ मुझे काम करने के लिए लैपटॉप भी मिल जाता है।" एक टीचर को इतने लचीलेपन पर ऐतराज़ भी है। उनका कहना है कि

बच्चों को पाबन्दियों में काम करना भी आना चाहिए।

अनुशासन के मायने क्या?

एक दिन देखा कि कक्षा आठ के बच्चों को टीचर बाहर मैदान में मोबाइल पर कोई वीडियो दिखा रही हैं। ठीक से देखने की कोशिश में एक बच्चा चटाई पर करवट से लेटा था। दूसरा उसपर हाथ रखकर आगे की ओर झुका हुआ था। दो बच्चियाँ उनके पीछे बैठीं एक-दूसरे पर हाथ रखे हुए ग़ौर से वीडियो देख रही थीं। कई अन्य बच्चे भी अपनी तरह बैठे थे। अगर बीच में टीचर कुछ कहतीं-पूछतीं तो सब ध्यान-से सुनते और जवाब भी देते थे। इस तरह की चीज़ों पर कई बार अध्यापकों में सही-ग़लत को लेकर बहस छिड़ जाती है जो कि ज़रूरी भी है।

स्कूल जैसे इदारे का तसव्वुर बगैर अनुशासन की बातचीत किए अधूरा-सा है। लेकिन यह सोचने की ज़रूरत है कि अनुशासन का मतलब क्या पाबन्दी और दायरों का खींचना है? अगर दूसरे की आज़ादी का हर्ज हो रहा है, या सीखने-सिखाने में परेशानी है तो अपनी हदों को जाँचना होगा। यानी स्कूल के सन्दर्भ में यह देखना ज़रूरी है कि जिसे हम अनुशासन मान रहे हैं, क्या वह बच्चों को ख़ुदमुख़्तार बनाने में मदद कर रहा है? और क्या वह बच्चों के सीखने में मददगार है या नहीं?

अगर इस पैमाने से हम इस स्कूल को देखते हैं तो अनुशासन की तारीफ़ करनी होगी। चाहे बच्चे ख़ास मुद्रा में न नज़र आएँ (जैसा कि आपने ऊपर दिए गए उदाहरण में देखा) या फिर असेंबली में सेना की टुकड़ी की तरह पंक्तियों में खड़े नज़र न आएँ, लेकिन सीखने-सिखाने का जज़्बा है और कोशिश भी है। वक़्त पर क्लास में पहुँचना, अगर बाहर चटाई पर बैठे हैं तो उसे लपेटकर रखना, कुर्सियाँ लगाना और टीचर से इज़्ज़त से पेश आना - यह सब तो सीख लिया है। यह और बात है कि अगर हम प्रभुत्व वाले समूहों की संस्कृति को तहज़ीब और अनुशासन का हिस्सा मान रहे हैं, तो फिर वह भी कभी-न-कभी परख लेंगे और अगर मुनासिब लगेगा तो अपना भी लेंगे।

अनिल जी से जब इस बारे में बातचीत हुई तो उन्होंने हँसते हुए कहा, "Some amount of irreverence is good." (थोड़ा अनादर/अश्रद्धा भी ज़रूरी है।) शायद यह भी खुलेपन का एहसास देता हो। जबकि मैंने ऐसा कुछ अनादर महसूस तो नहीं किया। स्कूल और तालीम के तसव्वुर या नज़रिए को बनाने और हक़ीक़ी जामा पहनाने में अनिल जी का बड़ा योगदान है। इसके लिए अध्यापकों का चयन और उनसे गहरी गुफ़्तगू, कार्यशाला आयोजन, बच्चों को पढ़ाना - ये तमाम काम अनिल जी अंजाम देते रहे हैं।

प्रोफ़ेसर अनिल सेठी कक्षा दूसरी के बच्चों के साथ।

विविधता का फायदा

एक और बात जो मुझे अजीबो-ग़रीब लगी, वह थी बच्चों की फ़रमाइशें। आठवीं कक्षा के केशव ने मुझसे आग्रह किया कि मैं उन्हें सामाजिक-सियासी ज़िन्दगी के अलावा संविधान भी पढ़ाऊँ। रिया ने आग्रह किया कि कक्षा आठ की किताब के अलावा मैं उसे कक्षा दस की किताब से जेंडर पर एक पाठ पढ़ाऊँ। इस तरह की फ़रमाइशें सिर्फ मुझसे नहीं बल्कि काफ़ी बच्चों की तमाम अध्यापकों से रहती हैं। आजकल कुछ बच्चे एक टीचर के साथ लेनिन पर एक किताब पढ़ रहे हैं। इस पढ़ाई के चस्के को समझना थोड़ा मुश्किल है। एक तो पूरा माहौल, दूसरा, समझकर पढ़ने की ख़ुशी, तीसरा, अध्यापकों से अच्छा रिश्ता, शायद ये सब चस्का जगाने के लिए ज़िम्मेदार हैं।

विज़न दस्तावेज़ के हिसाब से इदारे की विविधता ही एक प्रेरणा का काम करती है। इसमें शामिल हैं खान-पान, पोशाक, संस्कृति, ज़बान, त्यौहार, मज़हब, गीत, नृत्य और विज्ञान व गणित के दृष्टिकोण भी। बच्चों में विविधता का ज़िक्र तो मैंने किया। अध्यापकों में भी काफ़ी विविधता देखने को मिलती है। दस-ग्यारह टीचर देश के अलग-अलग प्रान्तों और राज्यों से हैं, जैसे – केरल, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, असम, कर्नाटक, गढ़वाल, हैदराबाद, पंजाब और दिल्ली के अलग-अलग क़स्बों, गाँवों और शहरों से।

एक सज्जन के संघर्ष भरे सफ़र ने उन्हें ज़्यादा हमदर्द इन्सान बना दिया है। गाँव के स्कूल, कॉलेज में एक मददगार उस्ताद मिलीं तो कॉलेज तक पढ़ाई की, बीच में गार्ड की नौकरी भी की। आगे एक जानी-मानी यूनिवर्सिटी में पढ़ने का मौका मिला।

इन टीचर के संघर्ष ने उन्हें हाशियों से जूझते बच्चों की मदद करने का गहरा जज़्बा दिया है। ये टीचर हरिजन टोले में लर्निंग सेंटर शुरू करने वालों में से एक हैं।

यह आपसी भिन्नता बहुत-से मिथ्य टूटने का ज़रिया भी बनती है। एक-दूसरे से समझने-सीखने के बहुत-से मौक़े भी होते हैं। अध्यापकों ने तालीम भी अलग-अलग इदारों से मुकम्मल की है। टीचर हज़रात को मेहनत से काम करते देखकर पूछा कि उन्हें पोखरामा स्कूल में कैसा लग रहा है। एक ने जवाब दिया, "यहाँ ऑटोनॉमी (आज़ादी) है। अपनी तरह पढ़ा सकते हैं।" अन्य ने जवाब दिया, "हम सब एक-दूसरे की, चाहे वे प्रशासन के लोग हों या फिर टीचर, इज़्ज़त बहुत करते हैं। लगता है कि जैसे बहुत दिनों से जानते हैं। एक भावना है फ़ाउण्डेशन की।"

खुला माहौल सबके लिए

अध्यापकों का खाना एक जगह बनता है, और सब साथ में नाश्ता-खाना खाते हैं। साथ ही, हँसी-मज़ाक़ चलता है। बच्चों के बारे में बातचीत होती है - आजकल कौन ज़्यादा सवाल पूछ रहा है, किसकी तबियत ख़राब है, किस बच्चे ने क्या सीखा है, किसने क्या शरारत की वग़ैरह। अगले दिन की सामूहिक गतिविधियों की योजना भी साथ मिलकर बना ली जाती है।

अध्यापकों के व्यावसायिक विकास के बारे में स्कूल ने जो दस्तावेज़ तैयार किया है, वह कहता है - 'अध्यापकों को भी विद्यार्थियों की तरह आज़ादी, लचीलेपन और इज़्ज़त की ज़रूरत होती है। पोखरामा फ़ाउण्डेशन एक ऐसा माहौल बनाना चाहता है जहाँ हरेक ख़ुद अपना शासक हो या फिर स्व-राज करे। जहाँ टीचर और बच्चों को अपने काम से इतना लगाव हो कि वे जोश-ओ-ख़रोश से नई ऊँचाइयों को पा सकें'।

अध्यापकों ने अपनी मर्ज़ी से और साथियों से चर्चा करके नए क़दम उठाए हैं। जैसे कई लोग स्कूल के बाद बच्चों के लिए मौजूद रहते हैं और कुछ ने यह ज़िम्मेदारी लेना मुनासिब नहीं समझा। पढ़ाने से लेकर क्लब और हाउस सिस्टम की ज़िम्मेदारियाँ टीचर आपस में मिलकर ही तय करते हैं और नतीजों के हिसाब से बदलते भी हैं। मैनेजमेंट या इन्तज़ामिया ने तयशुदा गतिविधियाँ थमाई नहीं हैं।

स्कूल की दुमंज़िला इमारत अभी बन ही रही है। जो कक्षाएँ तैयार हो गई हैं, उनमें बच्चे बैठते-पढ़ते हैं। चन्द कक्षाएँ स्कूल शुरू करवाने वाले अजय जी के घर के बरामदों और कमरों में चलती हैं। जब छोटे बच्चों की छुट्टी हो जाती है, तब बड़े बच्चे आधी छुट्टी के बाद अपने घरों से खाना खाते हुए नए कैंपस पहुँच जाते

हैं। पुराने कैंपस (या घर) से नया कैंपस तकरीबन सवा किलोमीटर दूर है। कुछ बच्चे साइकिल से, कुछ पैदल और कुछ टोटो रिक्शा से पहुँचते हैं। इमारत काफ़ी ख़ूबसूरत बन रही है। एक ख़ास चीज़ पर मेरा ध्यान दिलाया गया कि इमारत और हरियाली अलग-अलग से महसूस नहीं होते। बिल्डिंग के बीच में बड़ी क्यारियाँ लगाई गई हैं। छोटे बच्चों की हर कक्षा के बाहर एक छोटा बग़ीचा है। काफ़ी पेड़ लगाने और बांस का झोपड़ बनाने का इरादा है। स्कूल परिसर में एक पोखर है जो स्कूल की इमारत पूरी बनने के बाद खूबसूरती में इज़ाफ़ा करेगा।

कुछ गतिविधियाँ

स्कूल की गतिविधियों का आपस में एक जुड़ाव-सा मालूम पड़ता है। स्कूल में चार हाउस हैं - Liberty, Equality, Fraternity, Dignity. हाउस सिस्टम के अलावा स्कूल में दस क्लब भी हैं। इनके नाम इनका अच्छा तार्रुफ़ हैं। कुछ हैं – यंग जर्नलिस्ट क्लब, पोखरामा प्लस, यंग साइंटिस्ट, फ़न विद मैथ, गाँधी स्टडी सर्कल, वॉइस-आवाज़ वॉइस-आबाद, थिएटर, गेम्स क्लब, साइकिल सदा, पॉवर हाउस (योग/aerobic exercise)।

इनमें से कुछ सिर्फ़ बड़े बच्चों के लिए हैं और कुछ सिर्फ़ छोटे। 'पोखरामा क्लब' जो चलाती हैं, उन उस्तानी से बातचीत हुई। उन्होंने क्लब की कुछ (दो साला) गतिविधियों के बारे में बताया। सबसे पहले उन्होंने पोखरामा की हाल की तारीख़ में जो ख़ास घटनाएँ घटी हैं, उनका एक घटनाक्रम बनाने की कोशिश की। जैसे बाढ़ का आना, अस्पताल का

Fraternity *हाउस की पहली हाउस मीटिंग।*

प्री-प्रायमरी कक्षाओं की शनिवार क्लब गतिविधि।

बनना। इसी में आगे खेती के सफ़र और बदलाव को समझने की कोशिश हुई; जैसे, पहले ट्रैक्टर का गाँव में आना या फिर महिलाओं के अहम योगदान को जानना-समझना। आगे चलकर क्लब के बच्चों ने घर-घर जाकर सर्वे भी किया। इसमें उन्होंने हर घर में सुविधाओं, टॉयलेट, प्रवास, शिक्षा की स्थिति, लड़कियों के स्कूल छोड़ देने और अन्य किस्म की दिक़्क़तों के बारे में पता किया। यह भी कोशिश की कि लोगों को कई तरह की जानकारी फ़राहम हो सके। हाल ही में ये बच्चे नुक्कड़-नाटक तैयार कर रहे थे जिसे वे गाँव के लोगों के सामने प्रस्तुत करेंगे। अब आप सोच ही सकते हैं, ये गतिविधियाँ पाठ्यक्रम का हिस्सा ही हैं। सामाजिक-सियासी ज़िन्दगी जैसा मज़मून, जोकि आठवीं के बच्चों को मैं पढ़ाती हूँ, इन गतिविधियों से और समृद्ध होता है। बच्चे बहुत-से उदाहरण भी दे पाते हैं।

इसी तरह 'साइकिल सदा' से जुड़े बच्चे-बच्चियाँ अपनी सवारी पर अपने और पड़ोस के गाँव तक जाते हैं। ख़ास तौर पर इस क्लब से जुड़ी लड़कियों को खुलेपन का अनुभव हुआ है। शुरू में अगर कई माँ-बाप ने ऐतराज़ भी किया तो अब वे धीरे-धीरे इसके आदी हो गए हैं।

ये जो गतिविधियाँ होती हैं, उन्हें दर्ज करने का और बच्चों के लेख छापने का भी काम शुरू हुआ है। *पोखरामा हेराल्ड* नामक एक मैगज़ीन की शुरुआत की है, जिसका अभी एक ही अंक निकल पाया है।

कोरोना महामारी के दौरान स्कूल ने अच्छा काम किया। काफ़ी दिन कक्षाएँ ऑनलाइन चलीं, लेकिन सभी बच्चों की सुविधा का ख़याल रखा गया। जिन बच्चों के पास फ़ोन नहीं

थे, उन्हें फ़ोन भी खरीदकर दिए गए। काफ़ी बच्चे, लगभग तीस फ़ीसदी, अब भी पूरे वज़ीफे पर हैं, यानी उन्हें फ़ीस नहीं देनी पड़ती। और तीस फ़ीसदी आधी फ़ीस देते हैं। कुछ जो माली ऐतबार से बेहतर हैं, वे पूरी फ़ीस दे पाते हैं। ये फ़ीस भी ज़िले के निजी स्कूल से कम है। स्कूल इन्तज़ामिया की कोशिश है कि ये सिलसिला बरक़रार रहे ताकि स्कूल में विविधता बनी रहे। एक कोष बनाने का जतन जारी है ताकि यह सिलसिला क़ायम रह सके।

...और कुछ सवाल

अभी तो स्कूल में काफ़ी जोश-ओ-खरोश दिखता है। सब मिलकर इदारा बनाने में लगे हैं। सवाल यह है कि जब बच्चों की तादाद बढ़ेगी, तब क्या इसी तरह से काम जारी रहेगा? स्कूल की इसके लिए कितनी तैयारी है? स्कूल को इसके अलावा कई चीज़ों के बारे में गहराई से सोचने की ज़रूरत है। अपने विज़न दस्तावेज़ में यह गाँधी के दृष्टिकोण की बात तो करते हैं लेकिन कई गहरे मुद्दों से जूझने की ज़रूरत है। एक बच्चे के घर पहुँचे तो बड़े भाई ने शिकायत की, "मैम, इसमें बहुत कमियाँ हैं। गोबर उठाने के लिए कहो तो कहता है कि मेरे हाथों से बास आती है। अब बताइए, जब घर में पशु हैं और खेती-बाड़ी है, तो यह सब काम आना भी तो ज़रूरी हैं।" यह सोचना होगा कि स्कूल का जो सन्दर्भ है, उसमें किन चीज़ों का खण्डन होना ज़रूरी है और किन बातों को इज़्ज़त देना और रोज़मर्रा में शामिल करना ज़रूरी है। क्या हम स्कूल और घर के बीच में बेहतर रिश्ते और तालमेल की कोशिश कर सकते हैं?

'नई किताबें सप्ताह' समारोह।

फ़राह फ़ारूक़ी: इंस्टिट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज़ इन एजुकेशन, जामिया मिलिया इस्लामिया, दिल्ली में पढ़ाती हैं।

सभी फोटो: निर्पेन्द्र कुमार।